11

देव परिचय

द्युस्थान देवता (आकाश)

वरुण – वरुण का स्वरूप ईरान के 'अहुरमज्द' और ग्रीक के 'आरनोस' के समान है। वरुण को विश्व का नियन्त्रण करने वाला देवता समझा जाता है। वैदिक मंत्रों में बतलाया गया है – सूर्य उनके नेत्र हैं, वायु श्वास है, आकाश वस्त्र है। इनकी आज्ञा से ही नदियाँ बहती हैं, सूर्य चमकता है तथा चन्द्रमा अपनी परिधि में विद्यमान रहता है। वरुण ऋतुओं के स्वामी माने जाते हैं। वे ही सभी ऋतुओं का माह का और दिन और रात्रि का विधान करते हैं। वे पक्षियों का आकाश मार्ग तथा नौकाओं का समुद्र मार्ग भी जानते हैं। वे हजार खम्भों वाले विशाल भवन में निवास करते हैं। वे क्षत्र (प्रभुता) से सम्पन्न हैं अतः इन्हें क्षत्रिय भी कहा गया है। इन्हें असुर माना गया है। ये ऋत के नियंता भी हैं। देवता मित्र वरुण के सहचर माने जाते हैं। वरुण आकाश में निवास कर भी धरती के जीवों के स्वामी माने जाते हैं। ये सभी जीवों के कर्म द्रष्टा तथा कर्मा-ध्यक्ष समझे जाते हैं। ये पापियों को दण्ड देते हैं, परन्तु पाप के लिए क्षमा-याचना करने वालों के लिए दया के प्रतीक हैं। वरुण के स्वरूप से पता चलता है कि वैदिक ऋषि पाप तथा पाप से मुक्ति की सिद्धांत से सुपरिचित हैं।

ऋत प्राकृतिक एवं नैतिक व्यवस्था का प्रतीक है।

ऋत का सिद्धांत – ऋत का शाब्दिक अर्थ है विश्व के घटनाओं का गति-क्रम। इसका मूल अर्थ – प्रकृति की एकरूपता जैसे – सूर्य, तारे, पृथ्वी, आकाश, वायु, नदियाँ तथा विभिन्न ऋतुओं, (दिन-रात) का अपने का नियमित-क्रम गतिमान होना तथा एक विशेष क्रम ऋत के कारण ही है। विश्व की समस्त गति, व्यवस्था और परिवर्तन के मूल में अपरिवर्तनीय और अचल ऋत-नियम है। यह एक ऐसा नियम है जिसकी अवहेलना देवता तक नहीं कर सकते। ऋत पहले यह प्राकृतिक नियम था धीरे-धीरे नैतिक व्यवस्था सूचक भी प्रतीक बन गया और समोच्चतः कर्म नियम प्रतीक हो गया। इस रूप में ऋत वह नियम है जो पूरे विश्व में व्याप्त है जिसका देवता तथा सभी मनुष्यों को पालन करना अनिवार्य है। इस प्रकार ऋत सर्वप्रथम प्राकृतिक एकरूपता का सिद्धांत है, ऋत विश्व के मूल में एक अपरिवर्तनीय सत्ता है, ऋत सदाचार का नैतिक नियम है और अंत में कर्म-सिद्धांत का पूर्वानुमान है। ऋत के नियम पालन को वेद में 'व्रत' कहा गया है। इसलिए ऋत के अनुसार विश्व-व्यवस्था एक नैतिक व्यवस्था है।

प्रेयस (लौकिक) श्रेयस (पार- लौकिक)

प्रेयस (लौकिक) समृद्धि

लौकिक तथा पारलौकिक

त्रि ऋण – सारे प्रकार के यज्ञ प्रेयस तथा श्रेयस की प्राप्ति के लिए की जाती थी किन्तु तीन प्रकार के ऋणों से उऋण होने की इच्छा भी वैदिक समाज में प्रचलित था –

1) देव ऋण – देवों के प्रति कर्तव्य की पूर्ति यज्ञ के सम्पादन से होती है इसलिए देवता के प्रति अपने

कर्तव्यों को पूरा करने के लिए वे देव ऋण - यज्ञ विभिन्न प्रकार के यज्ञ करके देव ऋण को पूरा करते थे।

2) ऋषि ऋण - ऋषि ऋण का तात्पर्य है कि प्राचीन पुरुषों के प्रति आंतरिक दान के लिए ऋण है, जिसे हम स्वाध्याय के द्वारा उस परम्परा को ग्रहण कर, उसे आगे की पीढ़ी तक पहुँचाकर उस ऋण को चुकाते

3) पितृ ऋण - पितृ ऋण से उऋण होने के लिए संतति के सूत्र को आगे बढ़ाकर प्राप्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार वैदिक काल में अतिथि सत्कार तथा सभी जीवों के प्रति परोपकार तथा मनुष्यों के प्रति दान के महत्व को भी चर्चा है।

Objective

* ऋग्वेद के हिरण्यगर्भसूक्त में - प्रकृतिरूपी उपादान कारण से सृष्टि का निर्माण करनेवाला वर्णित है।
* ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में द्वैतपरक आध्यात्मिक ज्ञान का अतिक्रमण कर उच्चतर अद्वैतवाद को स्वीकार किया गया है।
* वेद में तीन प्रकार के ऋण की चर्चा है -

1) देव ऋण - देवों के प्रति कर्तव्य की पूर्ति यज्ञ के सम्पादन से होती है।
2) ऋषि ऋण - वेदों के अध्ययन तथा उस ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाकर
3) पितृ ऋण - विवाहोपरांत संतान उत्पत्ति कर इस ऋण से उऋण हुआ जा सकता।
4) मनुष्य ऋण - मनुष्यों के प्रति भी हमारे कर्तव्य जिसे अतिथि सत्कार द्वारा चुकाया जा सकता है।